NOVATEUR PUBLICATIONS
JournalNX-A Multidisciplinary Peer Reviewed Journal
ISSN No:2581-4230
VOLUME 2, ISSUE 4, April -2016

Dr. Lajvanti

Deptt. Of Hindi

पं॰ लखमीचन्द के सांगों में चित्रित धर्म का अर्थ, स्वरूप एवं परिभाषा :एक अध्ययन

Abstract

पंडित लखमीचन्द अपने समय के हरियाणा के लोकप्रिय व्यक्ति थे । उनका नाम हरियाणा के लोकमानस में इस कदर रस–बस गया था कि आज भी ग्रामीण भाईयों को उनके द्वारा रचित भजन एवं रागनियाँ स्मरण हैं । पंडित लखमीचन्द के अनुसार मानवीय जीवन में सद्भावनापूर्ण वातावरण बनाने के लिए धर्म को महत्त्वपूर्ण और प्रथम स्थान दिया गया है। धर्म वह धारणा है जो मानव को अपने जीने के साथ दूसरों को भी जीने की दिशा दिखाता है। धर्म का वास्तविक अर्थ यह है जिसमें व्यक्ति समाज में रहने की पद्धति को समझकर उसका अनुपालन करता हुआ अपनी उन्नति करता है और दूसरो को भी अपने ही समान समझकर अभ्युदय की ओर जाने दे। राजा, प्रजा, व्यक्ति एवं समाज धर्म के नियमों को यदि धारण न करें तो संसार में अराजकता छा जाए। 'वस्तुतः धर्म व्यक्ति में नियम पालन के गुण, सहिष्णुता के विचार, समता के भाव, परोपकारिता के लक्षण, समदृष्टि और बुराईयों से दूर रहने की दिशा दिखा दिखाता है।

Introduction

व्यक्तिगत साधना के द्वारा व्यक्ति स्वयं को उच्चतम स्थिति तक पहुंचा लेता है, परन्तु यह साधना लोक साधना नहीं है न ही जन साधारण उस स्थिति को प्राप्त कर सकता है। शुक्ल जी का मत है, "व्यक्तिगत सफलता के लिए जिसे 'नीति' कहते हैं सामाजिक आदर्श की सफलता का साधन होकर वही धर्म हो जाता है।' भारतीय समाज में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन में धर्म की मुख्य भूमिका है। संसार के विभिन्न भू–भागों में निवास करने वाली मानव–जाति का निश्चित रूप से कोई न कोई धर्म है। विद्वानों ने 'धर्म' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की 'धृ' धातु से मन् प्रत्यय लगने से हुई है। इसका व्युत्पत्तिगत अर्थहै – धारण करना, आलम्बन देना, पालन करना। 'धर्म' का नाम धर्म इसलिए पड़ा है कि वह सबको धारण

करता है, जीवन की रक्षा करता है। अतः जिससे धारण और पोषण करना सिद्ध होता हो, वही धर्म है।सामान्यतः धर्म शब्द का प्रयोग कर्त्तव्य गुण नियम, न्यायशील, कर्म, उदारता आदि अर्थों में लिया जाता है। धर्म एक ऐसी आधारशीला है जो मनुष्य के कर्म और व्यवहार को नैतिक बनाता है। यह मनुष्य के तन को पवित्र और मन को शान्त रखने का सामर्थ्य रखता है। 'वृहत् हिन्दी कोश' में धर्म का अर्थ इस प्रकार बताया है – अभ्युदय और निःश्रेयस का साधना भूत वेद विहित कर्म, एक प्रकार का अदृश्य, जिससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है, लौकिक सामाजिक, कर्त्तव्य, ऋषि,मुनि या पारलौकिक सुख की प्राप्ति हो। किसी वस्तु या सद्गति की प्राप्ति के लिए किसी महात्मा या पैगम्बर द्वारा परिवर्तित मत विशेष या व्यक्ति में सदा बनी रहने वाली सहजावृति, स्वभाव, प्रकृति। सरल शब्दों में धर्म का सम्बन्ध धारण से है जो विशेष व्यक्ति अथवा समाज के जीवन को धारण कर सके अथवा जो व्यक्ति या समाज के द्वारा धारण किया जाए, वह विशेष गुण धर्म है।

'धर्म के स्वरूप की व्याख्या तीन प्रकार से की जाती है – प्रथम जिससे लोक द्वारा धारण किया जाए, वह धर्म है। द्वितीय, जो लोक को धारण करें वह धर्म है। यह कुमार्ग से सन्मार्ग की ओर ले जाता है तथा अपराध की भावना से मुक्ति दिलाता है। 'धर्म एक सार्वभौमिक एवं मौलिक सामाजिक घटना है। धर्म हर समाज में पाया जाता है जहाँ मानव है, वहाँ धर्म है। धर्म की अभिव्यक्ति हर स्थान पर पाई जाती है।

धर्म का मुख्य उद्देश्य सदैव मानव को कर्म के लिए प्रेरित करना रहा है। मानव के ज्ञान की सार्थकता की 'कर्म' में ही है। धर्म दास कर्म–शक्ति की प्रेरणा गीता का मूल संदेश है। 'मनुष्य असत्य, बुराई, अन्याय और अत्याचार से इसलिए जूझता है कि विश्व की संचालिका शक्ति, सत्य, भलाई, न्याय और सदाचार को समर्थन देती है। इसी निष्ठा और विश्वास से मानव कर्म–क्षेत्र की ओर प्रवृत्त होता है, यही धर्म है। धर्म मनुष्य के भौतिक और आध्यात्मिक जीवन को उन्नत बनाता है, क्योंकि एहिक और पारलौकिक सुख–शांति एवं समृद्धि के पथ की ओर से जाने वाला साधन धर्म है। इससे मानसिक चेतना जागृत होती है। यह मानव को आत्मसंयम और शान्ति से जीवन यापन करने योग्य बनाता है। सर्वप्रथम मनुष्य गृहधर्म का पालन करता है, उसके पश्चात् वह अपने मूल धर्म से ऊपर उठने पर वह लोक धर्म तथा फिर विश्व धर्म का पालन करता है। मानव की प्रारंभ से ही अलौकिक सत्ता के प्रति आस्था रही है। उसका विश्वास है कि लौकिक शक्तियों से भी अधिक शक्तिशाली कोई अज्ञात शक्ति है जो सांसारिक घटनाओं पर नियंत्रण रखती है। इस सत्ता के लिए प्रति मनुष्य में अनेक विश्वास विकसित होते चले गए। ये विश्वास ही प्रत्येक धर्म की आधारशिला

है।"धर्म के इस संकुचित अर्थ से परे विस्तृत अर्थ भी है। भारतीय परम्परा में धर्म का प्रयोग गुण, कर्त्तव्य नियम न्याय,शील, कर्म आदि अर्थों में किया जाता है। इसके अनुकूल होने वाले कार्यों को धर्म कहा जाता है। इसके विपरीत आचरण को अधर्म की संज्ञा दी जाती है।" पं॰ लखमीचन्द जी ने अपनी रागनियों और सांगों में सामाजिक जीवन में पड़ने वाले धर्म के प्रभावों को व्यक्तिगत जीवन में धर्म की भूमिका, वर्गीय समाज में धर्म का चरित्र, जनसाधारण की धार्मिक आस्थाओं को स्थान दिया है।धर्म की दार्शनिक मान्यताओं तथा इसके कर्मकांडी स्वरूप की व्याख्या करते हुए इसके नकारात्मक पहलुओं से उभारा है। पं॰ लखमीचन्द जी ने भी धर्म के महत्त्व को स्वीकार किया है। साथ ही साथ जब इसकी अति होने लगती है तो ये उसका विरोध भी करते हुए नजर आते हैं।

हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक समय में धर्म मात्र पूजा–पाठ, व्रत, उपासना, उपवास तथा तीर्थ स्थान तक ही सीमित नहीं बल्कि अब व्यापक अर्थ में मानवता का नाम ही धर्म है। कर्त्तव्य को उच्च आदर्शों की ओर अग्रसर करता है। वह मानव की असामाजिक वृत्तियों पर नियंत्रण कराकर मानव–मर्यादा की स्थापना करता है। यदि मनुष्य धर्म को धारण करता है तो धर्म उसके जीवन को व्यवस्थित करता है। धर्म मानव–जीवन की स्थिति, गति और रक्षा का आधार होने के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मूल्यवान और श्रेयस्कर है। धर्म मनुष्य का अभिन्न अंग बन गया है।

पंडित लखमीचन्द जी लोक–साहित्य में जीवन के धार्मिक पक्षों का सुन्दर वर्णन मिलता है। इस काव्य के कथ्य के आयाम ईश उपासना, गऊ की महत्ता, मन की चंचलता, भक्ति तथा वैराग्य तथा निर्गुण–सगुण का वर्णन आदि हैं। जिसका वर्णन निम्नलिखित हैं :–

मनुष्य संसार और संसार के सुखों में लिप्त रहना चाहता है। यही रागात्मिकता की वृत्ति मनुष्य को न जाने कहाँ–कहाँ धक्के खिलाती है, यही वह स्थल है जहाँ मनुष्य को ईश्वर भक्ति की आवश्यकता होती है। मनुष्य ही यही रागात्मिकता की वृत्ति इसी ईश्वर की विनय और उपासना में प्रवृत्त हो जाती है।

पंडित लखमीचन्द के लोक साहित्य में विनय और उपासना का सुन्दर पुट मिलता है। इन्होंने अपने काव्य में अनेक देवी–देवताओं की उपासना तथा प्रार्थना की है।इन्होंने माता भवानी की विनय पूर्वक प्रार्थना इस प्रकार से की है।

कारज सारिए री, सुरती तेरे चरण मैं लागी।
तेरा तो बोहत घणा सै ढेठ, मार दिए असुर गए जो फेर
हाजिर लिए खड़या तेरी भेंट,
मनै तूं पुचकारिए री, यो तेरा भक्त रटै मंद भागी ञ

लखमीचन्द ने माता भवानी के साथ–साथ ब्रजराज कृष्ण भगवान को भी पुकारा है और उनका यशगान किया है जो इस प्रकार से हैः–

श्रीकृष्ण जी महाराज आज्या, पृथ्वी के सरताज आज्या।
गोकुल के ब्रजराज आज्या, भारत के मैदान मै ॥
जती मर्द रहे ना सती बहू बिकण लगे हाड मांस और लहू।
गऊ मिश्री कूजा हुआ करै थी, सारे जग बूझा हुया करै थी।
घर–घर पूजा हुआ करै थी, सारे हिन्दुस्तान मैं ॥1॥
करण लागे आपस के मै बैर, घर–घर बह पाप की नहर।
पैर पद्म सिर मुकुट विराजै, कांधे मूंज जनेऊ साजै।
शंख घड़ियाल घंटा बाजै, घोर सुणै असमान मै ॥2॥
थारे बिन हो र्या सै बुरा हाल, करो कुछ भक्तों की प्रतिपाल।
बाल जती इच्छा के भोगी, समदर्शी साधन के योगी।
गऊ गीतागायत्री होग्यी तीनों नष्ट जहान मै ॥3॥
कहै लखमीचन्द मुश्किल हो र्या सै जीणा।
भारत का जा सै लुट्या लखीणा
किसा खाणा पीणा बण्या टेठ का, मां तै न्यारा जण्या पेट का
कृष्ण जी पनाह पेट का माणस की जबान मैं

इस प्रकार से पंडित लखमीचन्द ने अपने सांगों और रागनियों में विनय और उपासना के पदों की रचना की है। विनय और उपासना के पदों में भवानी मां, महिषामर्दिनी, शिव तथा कृष्ण भगवान की वंदना मिलती है।

पंडित लखमीचन्द के सांगों में ईश्वर महिमा के गुणगान का सुन्दर वर्णन मिलता है। इन्होंने ईश्वर को इस सृष्टि का रचयिता तथा कल्याण करने वाला माना है। ईश्वर बिगड़े कामों को संवारने वाला, मुर्दे में भी जान डालने वाला, राजा को रंक बनाने वाला रंक को राजा बना सकता है। वह सर्वव्यापक है और इस सृष्टि के कण–कण में विद्यमान है और इस सृष्टि का नियामक हैः–

हे ईश्वर तू सबके बिगड़े हुए समारै काम।
हरे राम, हरे राम, हरे राम ॥
भली जगांह पै नाश घालदे, मुर्दे मैं भी सांस घालदे।
राजा नै बणवास घालदे, उटादे कष्ट तमाम।
हरे राम, हरे राम, हरे राम ॥
बुद्धि ने तू बना अस्थिर दे, दुःख सुख की बता खबर दे।
एक पल छन मैं करदे, तू प्रभु गोरा काला चाम।

हरे राम, हरे राम, हरे राम ऽ2ऽ

माया रचकै तू खेल खिलादे, दुख सुख दे कै तुरत भुलादे।

तलै गिरादे, स्वर्ग झूलादे, दिखादे सच्चा धाम।

हरे राम, हरे राम, हरे राम ऽ3ऽ

लखमीचंद तै साज दे दिया, एक कंगले तै ताज दे दिया।

हट कै नल तै राज दे दिया है सच्चे घनश्याम ऽ4ऽ

ईश्वर सदा अपने भक्तों के पास रहता है। वह अपने भक्तों को इस जीवन–मरण के बंधन से मुक्ति प्रदान करता है। जब–जब भक्त पर कभी कोई मुसीबत आती है तो ईश्वर अपने भक्त की तुरन्त सहायता के लिए आते हैं। ईश्वर अपने भक्तों में ऊँची–नीची जाति का कोई भेद–भाव नहीं रखते। वे कभी–कभी अपने भक्तों के धैर्य की परीक्षा भी ले लेते हैं। पंडित लखमीचन्द ने अपने एक उपदेशक भजन में ईश्वर महिमा का सुन्दर वर्णन किया है। जो इस प्रकार है :–

हे त्रिलोकी भगवान, पार तनै तारे नर नारी

जो तेरा बणकै दास रहा ऽ

कैरों छिक लिए चीर तार कै बैठाग्ये आखिरकार हार कै।

मारकै दुर्योधन का मान, सभा मैं जब द्रौपदी ललकारी,

चीर मैं तू छूपकै खास रहा ऽ1ऽ

जन्म सब दुख मैं काट लिया, भेद तेरा सारा पाट लिया।

डाट लिया सुवे के मैं ध्यान, पार तनै गणका भी तारी,

सोच मैं तेराए बास रहा ऽ2ऽ

तेरा किस–किस नै दर्शन पा लिया, बण सन्यासी शेर सजा लिया।

बचाली मोर ध्वज की ज्यान, भगत नै ना हिम्मत हारी,

इतनै तेरा विश्वास रहा ऽ3ऽ

लखमीचन्द कर ज्ञान शुरु, ज्ञान तै होग्ये पार धुरु।

गुरु नारद तै पा लिया ज्ञान, लात जिसकै मौसी नै मारी।

भगत के तू हरदम पास रहा।'

ईश्वर का भेद आज तक किसी को नहीं पाया। वह सदा अपनी लीलाओं द्वारा जीव को भ्रमाता रहता है। इन्हीं लीलाओं से प्रभावित होकर पंडित जी ने एक भजन में कहा है :–

जड़ चेतन मैं व्यापक हो प्रभु निज पै वास करै है।

कभी आता कभी जलाता प्रभु क्या तलाश करै है ऽ

कभी पाणी मैं शील सर्द कभी अग्नि मैं ताता है।

कभी खुशबोई मगन रहै कभी अन्न फल धन खाता है।
कभी सबके सामने जाहिर हो कभी चल्या जाता है।
कभी जन्म लेत कभी नष्ट होत कभी रोवै कभी गाता है।
कभी असुरों से करै लड़ाई कभी ब्रज मै रास करै है ७

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ॰ गुणपाल सांगवान : हरियाणवी लोकगीतों का सांस्कृतिक अध्ययन, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, 1989
2. गुलाब राय : भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, साहित्य मन्दिर, ग्वालियर, 1962
3. गुलाब राय : भारतीय संस्कृति, रविन्द्र प्रकाशन, पाटन बाजार, ग्वालियर, 1975
4. गंगा प्रसाद विमल : आधुनिकता साहित्य के संदर्भ में, दि मैककमलन कम्पनी ऑफ इण्डिया, प्रा॰ लि॰ दिल्ली, प्रथम सं॰ 1978
5. डॉ॰ जगदीश गुप्त : नई कविता, स्वरूप और समस्याएं, शाही विजयदेव नारायण, आला किताबमहल, 1959
6. डॉ॰ जगदीश नारायण : हरियाणा प्रदेश के हरियाणवी लोकगीतों का सामाजिक पक्ष, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, 1989
7. जयनाथ नलिन : साहित्य का आधार दर्शन, आलोक प्रकाशन, भिवानी, प्रथम सं॰ 1977
8. डॉ॰ जयभगवान गोयल : पुरातत्त्व इतिहास व संस्कृति, साहित्य एवं लोकवार्ता, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1996
9. डॉ॰ जयसिंह 'नीरद', दिनकर के काव्य में परम्परा और आधुनिकता, अनुराधा प्रकाशन, मेरठ, प्रथम सं॰ 1984

10- डॉ॰ दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक का उद्‌भव और विकास, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली